From Presence to Power: A Conditional Theory of Representational Conversion

रूपान्तरण का प्रश्न

उपस्थिति से शक्ति तक: प्रातिनिधिक रूपान्तरण का एक सोपाधिक सिद्धान्त

***Pramod Kanwar, **Dr. Ram Darshan**

*Research Scholar, **Research Guide

Dept of Political Science, JJT University

[1]*Received: 02/07/2025; Accepted: 17/08/2025; Published: 14/10/2025*

Abstract

The distinction between descriptive and substantive representation has become the dominant framework in representation studies, and empirical research—most recently exemplified by Heinze, Brulé, and Chauchard (2025)—repeatedly confirms that presence does not automatically translate into power. Yet the proposition that "presence is not power" is itself a conclusion without a theory. It merely names two endpoints while leaving untheorized the pathway between them—the very space in which the phenomenon of the *sarpanch-pati* actually resides.

This article proposes a conditional theory of representational transformation: presence and agency are linked not by a single switch, but by a "transformation function" whose intervening variables can be identified—procedural knowledge, tenure in office, bargaining autonomy, and coalition embeddedness—and which is stratified by caste and class. Within this framework, the descriptive–substantive dichotomy is reconceptualized as a limiting case of this function. Drawing upon the works of Pitkin, Saward, Mansbridge, Pettit, and Crenshaw, and illuminated by illustrations from rural Rajasthan (as examples rather than evidence), the article rereads the division of accountability as a relation of domination and outlines a future research agenda.

Keywords: *Representational Transformation; Descriptive–Substantive Representation Dichotomy; Non-Domination; Intersectionality; Conditional Theory; Representative Claim.*

सार

वर्णनात्मक और सारगर्भित प्रतिनिधित्व के बीच का भेद प्रतिनिधित्व-अध्ययन का प्रमुख ढाँचा बन चुका है, और अनुभवमूलक शोध—जिसकी एक हालिया परिणति हाइंज़े, ब्रुले एवं चौचार्ड (2025) में दिखती है—बारम्बार यह

[1] *How to cite the article:* Kanwar P., Darshan R.; (October 2025); From Presence to Power: A Conditional Theory of Representational Conversion; *International Journal of Development in Social Sciences and Humanities*; Vol 20, 31-40

पुष्टि करता है कि उपस्थिति स्वयमेव शक्ति में नहीं बदलती। किन्तु 'उपस्थिति शक्ति नहीं है' एक ऐसा निष्कर्ष है जिसके पास अपना सिद्धान्त नहीं। वह दो छोरों का नामकरण करता है और इन दोनों के बीच के उस मार्ग को अनसिद्धान्तित छोड़ देता है, जहाँ 'सरपंच-पति' की परिघटना वस्तुतः निवास करती है। यह आलेख प्रातिनिधिक रूपान्तरण का एक सोपाधिक सिद्धान्त प्रस्तावित करता है: उपस्थिति और अभिकरण किसी एकल स्विच से नहीं, अपितु एक 'रूपान्तरण-फलन' से जुड़े हैं, जिसके मध्यवर्ती चरों को नामांकित किया जा सकता है—प्रक्रियात्मक ज्ञान, कार्यकाल, सौदेबाज़ी-स्वायत्तता, और गठबन्धन-अन्तःस्थता—और जो जाति तथा वर्ग के अनुसार स्तरीकृत है। इस ढाँचे में वर्णनात्मक–सारगर्भित द्विभाजन को इस फलन की एक सीमान्त-स्थिति के रूप में पुनर्निरूपित किया जाता है। पिटकिन, सावर्ड, मैन्सब्रिज, पेटिट तथा क्रेनशॉ के सहारे, और ग्रामीण राजस्थान के दृष्टान्त (प्रमाण नहीं) से आलोकित यह आलेख उत्तरदायित्व-विभाजन को प्रभुत्व के सम्बन्ध के रूप में पुनः पढ़ता है और एक शोध-कार्यक्रम को सुनिश्चित करता है।

मुख्य शब्द: प्रातिनिधिक रूपान्तरण; वर्णनात्मक–सारगर्भित द्विभाजन; प्रभुत्व-निषेध; अंतःक्षेत्रीयता; सोपाधिक सिद्धान्त; प्रातिनिधिक दावा

1. रूपान्तरण की समस्या

प्रतिनिधित्व के अध्ययन के पास एक सुदृढ़ निष्कर्ष है। आरक्षण के माध्यम से सुनिश्चित वर्णनात्मक उपस्थिति स्वयमेव सारगर्भित अभिकरण में रूपान्तरित नहीं होती। यह बात अब विवाद्य नहीं रही; यादृच्छिक प्राकृतिक प्रयोगों से लेकर व्यवहार-मूलक सर्वेक्षणों तक, प्रमाण की एक लम्बी श्रृंखला इसकी पुष्टि करती है।

किन्तु एक निष्कर्ष सिद्धान्त नहीं होता। 'उपस्थिति शक्ति नहीं है'—यह वाक्य हमें दो छोरों के विषय में बताता है, किन्तु उन दोनों के बीच की यात्रा के विषय में मौन रहता है। और समस्या ठीक उसी यात्रा में है। 'सरपंच-पति' की परिघटना न तो शुद्ध उपस्थिति है और न पूर्ण अनुपस्थिति; वह उस मध्यवर्ती प्रदेश में निवास करती है जिसे प्रचलित द्विभाजन ने कभी मानचित्रित नहीं किया।

विचार करें: दो पंचायतें, दोनों में स्त्री सरपंच, दोनों में समान नीतिगत परिणाम—और फिर भी एक में निर्णय स्त्री का, दूसरी में उसके पति का। द्विभाजन इन दोनों को प्रायः एक ही कोटि में रख देगा, क्योंकि वह परिणाम देखता है, प्रक्रिया नहीं। यही वह अन्धत्व है जिसे रूपान्तरण का सिद्धान्त दूर करना चाहता है। समान निर्गत भिन्न प्रक्रियाओं से उत्पन्न हो सकता है, और राजनीतिक रूप से यह भेद ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस आलेख का प्रस्ताव सरल है, यद्यपि उसके निहितार्थ नहीं। वर्णनात्मक–सारगर्भित द्विभाजन का *प्रयोग* करने के स्थान पर—जैसा अनुप्रयुक्त शोध करता आया है—यह आलेख उस द्विभाजन को ही *पुनर्निर्मित* करने का प्रयास करता है। दूसरे शब्दों में, यहाँ बल किसी क्षेत्र-विशेष के प्रमाण पर नहीं, अपितु उस वैचारिक उपकरण पर है जिसके सहारे

प्रमाण को पढ़ा जाता है। प्रश्न यह नहीं कि उपस्थिति शक्ति में बदलती है या नहीं; प्रश्न यह है कि वह *किन परिस्थितियों में, किस प्रक्रिया से* बदलती है—अर्थात् रूपान्तरण की स्वयं की सैद्धान्तिक संरचना क्या है।

राजस्थान इस आलेख में प्रमाण की भूमि नहीं, अपितु दृष्टान्त की भूमि है। जहाँ-जहाँ अमूर्त सिद्धान्त को ठोस बनाने की आवश्यकता होगी, वहाँ ग्रामीण राजस्थान का सन्दर्भ एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाएगा—न कि किसी अनुभवमूलक दावे के आधार के रूप में। यह विभेदन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह आलेख सिद्धान्त-निर्माण का है, और सिद्धान्त का परीक्षण एक पृथक्, क्षेत्र-आधारित अध्ययन की प्रतीक्षा करता है, जिसकी रूपरेखा अन्तिम अनुभाग में दी गई है।

2. द्विभाजन की सीमाएँ

आरम्भ वहीं से करना होगा जहाँ आधुनिक प्रतिनिधित्व-सिद्धान्त आरम्भ होता है—हन्ना पिटकिन (Pitkin 1967) से। पिटकिन का योगदान, जैसा सर्वविदित है, 'प्रतिनिधित्व' को कई अर्थों में विघटित करना था: औपचारिक, वर्णनात्मक, प्रतीकात्मक, और सारगर्भित। इनमें वर्णनात्मक और सारगर्भित का भेद इस समूचे क्षेत्र की केन्द्रीय कोटि बन गया।

यह भेद अत्यन्त उपयोगी है, और इस आलेख का अभिप्राय उसे त्यागना नहीं। किन्तु एक उपकरण की सबसे बड़ी शक्ति प्रायः उसकी सबसे बड़ी सीमा भी होती है। दो पृथक् 'कोटियों' की भाषा एक सातत्य को दो ध्रुवों में संकुचित कर देती है। वास्तविकता, तथापि, ध्रुवीय नहीं अपितु क्रमिक है—उपस्थिति और अभिकरण के बीच असंख्य मध्यवर्ती अवस्थाएँ हैं, और निर्णायक राजनीतिक जीवन ठीक इन्हीं मध्यवर्ती अवस्थाओं में बीतता है। द्विभाजन हमें छोर दिखाता है; वह हमें वर्णक्रम नहीं दिखाता।

एन फिलिप्स (Phillips 1995) की 'उपस्थिति की राजनीति' ने इस द्विभाजन को एक नैतिक भार दिया, यह तर्क रखते हुए कि कुछ समूहों के लिए उपस्थिति का एक स्वतन्त्र मूल्य है, जिसे किसी सहानुभूतिशील बाहरी प्रतिनिधि से प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता। किन्तु 'उपस्थिति की राजनीति' भी मुख्यतः यह स्थापित करती है कि उपस्थिति *क्यों* महत्त्वपूर्ण है; वह यह नहीं बताती कि उपस्थिति शक्ति में *कैसे* बदलती है। मूल्य का प्रश्न और क्रियाविधि का प्रश्न भिन्न हैं—और प्रस्तुत आलेख का सरोकार दूसरे से है, जो प्रायः अनदेखा रह गया।

इस सीमा को लाँघने के दो उल्लेखनीय प्रयास समकालीन सिद्धान्त में हुए हैं। पहला, माइकल सावर्ड (Saward 2006) का। उन्होंने तर्क दिया कि प्रतिनिधित्व की चर्चा उसके 'रूपों' से पूर्व उसकी 'गतिकी' पर केन्द्रित होनी चाहिए, और इसके लिए 'प्रातिनिधिक दावा' (representative claim) की अवधारणा प्रस्तुत की। इस दृष्टि में प्रतिनिधित्व कोई स्थिर तदनुरूपता नहीं, अपितु एक निष्पादित, सतत, और विवाद्य दावा है—कोई किसी के लिए

प्रतिनिधित्व का दावा करता है, और वह दावा स्वीकृत या अस्वीकृत होता है। यह पुनर्संकल्पन द्विभाजन को द्रवित कर देता है: 'सरपंच-पति' को अब एक प्रतिस्पर्धी प्रातिनिधिक दावे के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें पुरुष-सम्बन्धी स्वयं को वास्तविक प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत करता है।

दूसरा प्रयास जेन मैन्सब्रिज (Mansbridge 2003) का है, जिन्होंने प्रतिनिधित्व को 'पुनर्विचारित' करते हुए उसके केवल वचन-मूलक (promissory) रूप से आगे बढ़कर प्रत्याशी (anticipatory), घूर्णदर्शी (gyroscopic) और प्रतिनिधायी (surrogate) रूपों को चिह्नित किया। ये सूक्ष्म भेद यह दर्शाते हैं कि उत्तरदायित्व और अभिकरण के अनेक प्रकार हैं, जिन्हें एकल द्विभाजन समेट नहीं सकता। किन्तु—और यही इस आलेख का प्रस्थान-बिन्दु है—इनमें से कोई भी प्रयास *रूपान्तरण का मॉडल* प्रस्तुत नहीं करता। वे द्विभाजन को द्रवित करते हैं, मध्य को खोलते हैं, किन्तु उस मध्य की आन्तरिक संरचना को नामांकित नहीं करते। ठीक यही रिक्ति अगला अनुभाग भरने का प्रयास करता है।

3. मध्य का पुनर्संकल्पन: रूपान्तरण-फलन

इस आलेख का मूल योगदान यहीं है। मैं यह प्रस्तावित करता हूँ कि उपस्थिति और अभिकरण के बीच का सम्बन्ध एक स्विच नहीं, अपितु एक फलन है—एक 'रूपान्तरण-फलन', जिसमें उपस्थिति एक आवश्यक निवेश है, किन्तु निर्गत (अभिकरण) कुछ मध्यवर्ती चरों के मान पर निर्भर करता है। जब ये चर शून्य के निकट हों, तब उपस्थिति 'सरपंच-पति' की अवस्था उत्पन्न करती है; जैसे-जैसे वे बढ़ते हैं, रूपान्तरण पूर्ण अभिकरण की ओर अग्रसर होता है। इन चरों को नामांकित किया जा सकता है, और मैं चार को केन्द्रीय मानता हूँ।

इस फलन की वैचारिक जड़ें सशक्तिकरण के सिद्धान्त में हैं। नैला कबीर (Kabeer 1999) का त्रिआयामी ढाँचा—संसाधन, अभिकरण, उपलब्धियाँ—यहाँ सीधे लागू होता है: उपस्थिति (आरक्षित सीट) एक 'संसाधन' है, और रूपान्तरण-फलन ठीक वह प्रक्रिया है जिससे संसाधन 'अभिकरण' में बदलता है। अमर्त्य सेन (Sen 1999) का 'अभिकरण-स्वातन्त्र्य' और मार्था नस्बाम (Nussbaum 2000) की 'सामर्थ्य'-दृष्टि इसी अन्तर को पुष्ट करते हैं—सामर्थ्य का होना और उसका वास्तविक प्रकार्यण में बदलना दो भिन्न बातें हैं। और आइरिस मैरियन यंग (Young 2000) का 'सामाजिक परिप्रेक्ष्य' हमें स्मरण कराता है कि रूपान्तरण की विफलता में जो खोता है, वह केवल एक व्यक्ति का प्राधिकार नहीं, अपितु एक समूचा सामाजिक कोण है जो अन्यथा निर्णय-कक्ष में प्रवेश पाता।

पहला, *प्रक्रियात्मक ज्ञान*। शासन एक तकनीकी अभ्यास है: बैठकों की कार्यविधि, बजट की भाषा, फ़ाइलों का प्रवाह, योजनाओं की पात्रता—इन सबका ज्ञान शक्ति की पूर्व-शर्त है। यह ज्ञान समान रूप से वितरित नहीं; वह स्वाभाविक रूप से उन्हीं के पास संचित होता है जो पहले से शासन के निकट रहे हैं। और 'सरपंच-पति' की परिघटना

का एक बड़ा अंश ठीक इसी असमानता से उपजता है: पुरुष-सम्बन्धी प्रायः इसी प्रक्रियात्मक ज्ञान की आपूर्ति करता है, और इसी आपूर्ति के बहाने वास्तविक नियन्त्रण भी अपने पास रखता है।

दूसरा, *कार्यकाल*। रूपान्तरण को समय चाहिए—करते-करते सीखने की एक अवधि। किन्तु आरक्षित सीटों का आवर्तन ठीक इसी समय को काट देता है। एक एकल आरक्षित कार्यकाल रूपान्तरण के लिए अपर्याप्त हो सकता है, और चूँकि अगली बार सीट का आरक्षित रहना अनिश्चित है, इसलिए निरन्तरता का वाहक प्रायः वह स्थायी पुरुष-सम्बन्धी बन जाता है जो आवर्तन से अप्रभावित रहता है। इस प्रकार आवर्तन की समस्या, जिसे संस्थागत साहित्य प्रायः केवल एक प्रशासनिक तथ्य के रूप में दर्ज करता है, यहाँ रूपान्तरण-फलन का एक सैद्धान्तिक चर बन जाती है।

तीसरा, *सौदेबाज़ी-स्वायत्तता*। औपचारिक पद स्वयं वास्तविक प्राधिकार की प्रत्याभूति नहीं देता, यदि पदधारी के पास सौदेबाज़ी की स्वतन्त्र सामर्थ्य न हो। रेचल ब्रुले (Brulé 2020) ने सम्पत्ति और आर्थिक अधिकारों के सन्दर्भ में इस अन्तर्दृष्टि को विकसित किया; मैं इसे रूपान्तरण-फलन के एक सामान्यीकृत चर के रूप में ग्रहण करता हूँ। जिस स्त्री के पास स्वतन्त्र आर्थिक आधार और घर के भीतर सौदेबाज़ी की सामर्थ्य है, उसके लिए औपचारिक पद का वास्तविक प्राधिकार में रूपान्तरण कहीं अधिक सम्भाव्य है, बनिस्बत उस स्त्री के जो पूर्णतः आश्रित है।

चौथा, *गठबन्धन-अन्तःस्थता*। कोई प्रतिनिधि निर्वात में कार्य नहीं करता। थड डनिंग एवं जनहवी नीलेकणी (Dunning and Nilekani 2013) ने दर्शाया कि दलीय मध्यस्थता आरक्षण के वितरणात्मक प्रभावों को आकार देती है। इसका सामान्यीकृत निहितार्थ यह है कि क्या प्रतिनिधि सहायक गठबन्धनों—दल, स्व-सहायता समूह, सजातीय नेटवर्क—में अन्तःस्थ है अथवा एकाकी, यह उसके रूपान्तरण की सम्भावना को निर्णायक रूप से प्रभावित करता है।

एक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक है। ये चार चर योगात्मक नहीं, अपितु अन्योन्याश्रित हैं—वे एक-दूसरे को गुणित करते हैं। प्रक्रियात्मक ज्ञान के बिना सौदेबाज़ी-स्वायत्तता अधूरी रह जाती है; गठबन्धन-अन्तःस्थता के बिना दीर्घ कार्यकाल भी निष्फल हो सकता है। यही कारण है कि रूपान्तरण प्रायः अरैखिक होता है: किसी एक चर में वृद्धि का प्रभाव शेष चरों के मान पर निर्भर करता है। और यही अन्योन्याश्रयता बताती है कि एकल हस्तक्षेप—मात्र प्रशिक्षण, अथवा मात्र आरक्षण-वृद्धि—प्रायः अपेक्षित परिणाम क्यों नहीं देते: एक चर को ऊँचा करके शेष को शून्य पर छोड़ देना समूचे गुणनफल को न्यून ही रखता है।

इन चारों को एक साथ रखने पर रूपान्तरण-फलन का स्वरूप स्पष्ट होता है। इसे प्रतीकात्मक रूप में यों व्यक्त किया जा सकता है:

अभिकरण = फ़ (उपस्थिति; प्रक्रियात्मक ज्ञान, कार्यकाल, सौदेबाज़ी-स्वायत्तता, गठबन्धन-अन्तःस्थता | अंतःक्षेत्रीय स्थिति)

यहाँ उपस्थिति आवश्यक निवेश है—उसके बिना फलन का मान शून्य है। किन्तु उपस्थिति को अभिकरण में गुणित करने वाले वे चार मध्यवर्ती चर हैं। और निर्णायक बात यह है: इस ढाँचे में वर्णनात्मक–सारगर्भित द्विभाजन कोई स्वतन्त्र सत्य नहीं रह जाता, अपितु इस फलन की दो *सीमान्त-स्थितियाँ* बन जाता है। जब मध्यवर्ती चर शून्य के निकट हों, तब हमें 'शुद्ध वर्णनात्मक' प्रतिनिधित्व मिलता है—उपस्थिति बिना अभिकरण के, अर्थात् 'सरपंच-पति'। और जब वे अपने उच्चतम पर हों, तब 'पूर्ण सारगर्भित' प्रतिनिधित्व। द्विभाजन, इस प्रकार, एक सातत्य के दो सिरे हैं, और सिद्धान्त का कार्य उन सिरों का नामकरण नहीं, अपितु उनके बीच के फलन का अध्ययन है।

4. रूपान्तरण और प्रभुत्व

रूपान्तरण की विफलता को अब तक हमने एक तटस्थ, प्रकार्यात्मक भाषा में वर्णित किया है—मानो वह केवल कुछ चरों का निम्न मान हो। किन्तु इस विफलता का एक प्रामाणिक, राजनीतिक आयाम भी है, और उसे अनदेखा करना सिद्धान्त को दुर्बल कर देगा। जहाँ कोई औपचारिक रूप से निर्वाचित स्त्री जवाबदेह तो है किन्तु शक्ति-सम्पन्न नहीं, और कोई अनिर्वाचित पुरुष-सम्बन्धी शक्ति-सम्पन्न तो है किन्तु जवाबदेह नहीं, वहाँ केवल एक प्रकार्यात्मक अन्तराल ही नहीं, अपितु एक *प्रभुत्व का सम्बन्ध* विद्यमान है।

यहाँ फ़िलिप पेटिट (Pettit 1997) की 'प्रभुत्व-निषेध' (non-domination) की अवधारणा अत्यन्त प्रासंगिक है। पेटिट के लिए स्वतन्त्रता का मर्म केवल हस्तक्षेप का अभाव नहीं, अपितु किसी अन्य की स्वेच्छाचारी शक्ति के अधीन न होना है। 'सरपंच-पति' की व्यवस्था में निर्वाचित स्त्री ठीक ऐसी ही स्वेच्छाचारी शक्ति के अधीन है: उसका औपचारिक प्राधिकार किसी अनिर्वाचित व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है, जो उसे यथेच्छ अधिगृहीत कर सकता है। इस दृष्टि से रूपान्तरण की विफलता एक स्वतन्त्रता की विफलता भी है—और यही उसे एक नैतिक-राजनीतिक गम्भीरता देता है, जिसे प्रकार्यात्मक भाषा अकेले नहीं पकड़ सकती।

पेटिट की अन्तर्दृष्टि का एक सूक्ष्म पक्ष यहाँ विशेष रूप से प्रासंगिक है: प्रभुत्व के लिए सक्रिय हस्तक्षेप आवश्यक नहीं; मात्र स्वेच्छाचारी हस्तक्षेप की *सम्भावना* ही स्वतन्त्रता का हरण कर लेती है। अर्थात् वह स्त्री भी, जिसका पति प्रत्यक्षतः हस्तक्षेप नहीं करता किन्तु जो जानती है कि वह कभी भी कर सकता है, प्रभुत्व के अधीन है। इसका एक गहरा पद्धतिगत निहितार्थ है: रूपान्तरण की विफलता को केवल दृश्य अधिग्रहण के क्षणों में नहीं खोजा जाना चाहिए। वह उस सतत छाया में भी विद्यमान है जो स्वेच्छाचारी शक्ति की मात्र सम्भावना डालती है, और जो किसी भी व्यवहार-मूलक मापक की पकड़ से प्रायः बाहर रह जाती है।

उत्तरदायित्व के स्तर पर यह विकृति और स्पष्ट होती है। मैन्सब्रिज (Mansbridge 2009) ने उत्तरदायित्व के दो प्रतिमानों में भेद किया—'अनुशास्ति' (sanction) प्रतिमान, जिसमें मतदाता पुनर्निर्वाचन के भय से प्रतिनिधि

को अनुशासित करते हैं; और 'चयन' (selection) प्रतिमान, जिसमें मुख्य बात यह है कि पहले स्थान पर किसे चुना जाता है। आरक्षित सीटों का आवर्तन अनुशास्ति-प्रतिमान को दुर्बल कर देता है—जब पुनर्निर्वाचन की निरन्तरता ही अनिश्चित हो, तब अनुशासन का भय क्षीण हो जाता है। परिणामतः उत्तरदायित्व का समूचा भार चयन-प्रतिमान पर आ पड़ता है—अर्थात् इस प्रश्न पर कि आगे किसे किया जाता है। और चयन ठीक वही बिन्दु है जहाँ प्रॉक्सी सक्रिय होता है: वह आरम्भ में ही एक ऐसी अभ्यर्थी को आगे करता है जिसके स्वतन्त्र रूप से सशक्त होने की सम्भावना न्यून हो। इस प्रकार रूपान्तरण की विफलता प्रभुत्व और उत्तरदायित्व—दोनों की एक साथ विफलता सिद्ध होती है।

5. स्तरीकृत मोड़: रूपान्तरण-फलन की अंतःक्षेत्रीयता

अब तक प्रस्तुत रूपान्तरण-फलन में एक अन्तर्निहित खतरा है, और उसे स्पष्ट रूप से सम्बोधित करना अनिवार्य है। यदि हम 'निर्वाचित स्त्री' की बात एक समरूप कोटि के रूप में करें, तो हम एक गम्भीर त्रुटि कर बैठते हैं। रूपान्तरण-फलन सर्वत्र एकसमान नहीं; वह स्तरीकृत है।

किम्बर्ले क्रेनशॉ (Crenshaw 1991) की 'अंतःक्षेत्रीयता' (intersectionality) की अवधारणा यहाँ निर्णायक है। क्रेनशॉ ने दर्शाया कि जाति या वर्ग और लिंग कोई पृथक्, योगात्मक श्रेणियाँ नहीं, अपितु वे परस्पर प्रतिच्छेद करती हैं और एक गुणात्मक रूप से भिन्न अनुभव उत्पन्न करती हैं। प्रतिनिधित्व-सिद्धान्त में इस अन्तर्दृष्टि को आयात करने का अर्थ है: रूपान्तरण-फलन के चारों मध्यवर्ती चर स्वयं जाति-वर्ग की रेखाओं पर असमान रूप से वितरित हैं। एक दलित स्त्री और एक प्रभुत्वशाली जाति की स्त्री—दोनों के लिए प्रक्रियात्मक ज्ञान, सौदेबाज़ी-स्वायत्तता और गठबन्धन-अन्तःस्थता तक की पहुँच मूलतः भिन्न है, और इसलिए उनके रूपान्तरण के मार्ग भी भिन्न हैं।

इसका एक सुन्दर सैद्धान्तिक लाभ है। अनुभवमूलक साहित्य में जो 'विषमता' एक आश्चर्य के रूप में प्रकट होती है—यथा क्लॉट्स-फ़िगेरास (Clots-Figueras 2012) का यह निष्कर्ष कि प्रभाव जाति और क्षेत्र के अनुसार भिन्न होते हैं—वह इस स्तरीकृत ढाँचे में आश्चर्य नहीं, अपितु एक *सैद्धान्तिक पूर्वानुमान* बन जाती है। यदि रूपान्तरण-फलन स्वभावतः अंतःक्षेत्रीय है, तो प्रभावों का समरूप न होना अपेक्षित है, अपवाद नहीं। एक सिद्धान्त की शक्ति का एक मापदण्ड यही है कि वह बिखरे हुए अनुभवमूलक तथ्यों को एक सुसंगत अपेक्षा में बाँध सके।

यह स्तरीकृत दृष्टि एक पुराने विवाद को भी नया अर्थ देती है। 'समीक्षात्मक संख्या' (Dahlerup 1988) की धारणा मानती थी कि पर्याप्त संख्या स्वयं परिवर्तन ले आएगी; किन्तु सारा चाइल्ड्स एवं मोना लीना क्रूक (Childs and Krook 2008) ने बल को 'समीक्षात्मक कर्ताओं' की ओर मोड़ा। रूपान्तरण-फलन की भाषा में, 'समीक्षात्मक कर्ता' ठीक वे व्यक्ति हैं जिनके लिए फलन का मान उच्च है—जिनके पास प्रक्रियात्मक ज्ञान, स्वायत्तता और गठबन्धन एक साथ उपलब्ध हैं। और चूँकि ये संसाधन अंतःक्षेत्रीय रूप से वितरित हैं, इसलिए कौन 'समीक्षात्मक

कर्ता' बन पाता है, यह भी जाति-वर्ग से अनभिज्ञ नहीं। एक सावधानी यहाँ अनिवार्य है, और उस पर बल देना चाहिए: यह तर्क किसी सारवादिता में नहीं फँसता। वह यह नहीं कहता कि कोई समूह स्वभावतः अधिक या कम सक्षम है; वह केवल यह कहता है कि रूपान्तरण के *संसाधन* असमान रूप से बँटे हैं। दोष व्यक्ति में नहीं, वितरण में है।

6. एक शोध-कार्यक्रम

एक सिद्धान्त की अन्तिम परीक्षा उसकी फलप्रसूता है—अर्थात् वह किन नवीन, परीक्षणीय प्रश्नों को जन्म देता है। यहीं रूपान्तरण-फलन अपना व्यावहारिक मूल्य सिद्ध करता है, क्योंकि उसके चारों मध्यवर्ती चर मापनीय हैं।

प्रक्रियात्मक ज्ञान को सीधे मापा जा सकता है—बजट, योजनाओं और कार्यविधि सम्बन्धी प्रश्नावली के माध्यम से। कार्यकाल का प्रभावी विस्तार आवर्तन-अभिलेखों से आकलनीय है। सौदेबाज़ी-स्वायत्तता को सम्पत्ति, आय और गृह-निर्णयन सम्बन्धी सूचकों से परिचालित किया जा सकता है। और गठबन्धन-अन्तःस्थता को सामाजिक-नेटवर्क मानचित्रण से। इस प्रकार सिद्धान्त ठीक-ठीक यह सुनिश्चित करता है कि एक अनुभवमूलक अध्ययन को क्या मापना चाहिए, और प्रत्येक चर के प्रभाव की दिशा का पूर्वानुमान भी देता है—एक सत्यापनीय परिकल्पना के रूप में।

एक उत्तरदायी सिद्धान्त को अपनी सीमाएँ भी घोषित करनी चाहिए। रूपान्तरण-फलन मिथ्याकरणीय है: यदि अनुभवमूलक परीक्षण में अभिकरण इन चार चरों से स्वतन्त्र पाया जाए, अथवा यदि उच्च प्रक्रियात्मक ज्ञान और स्वायत्तता के बावजूद रूपान्तरण न हो, तो सिद्धान्त खण्डित होगा। इसके अतिरिक्त, इसकी अवधि-शर्तें भी स्पष्ट हैं: यह ढाँचा स्थानीय, आरक्षण-आधारित निकायों के सन्दर्भ में विकसित किया गया है। उच्चतर विधायी स्तरों अथवा अभ्यर्थी-कोटा प्रणालियों पर इसके अनुप्रयोग के लिए चरों के पुनः-अंशांकन की आवश्यकता होगी—और सम्भवतः कुछ नवीन चरों की भी। एक सिद्धान्त की सत्यता उसकी सर्वव्यापकता में नहीं, अपितु अपनी घोषित परिधि के भीतर उसकी परिशुद्धि में है।

यह वह बिन्दु है जहाँ प्रस्तुत सैद्धान्तिक आलेख अपने अनुभवमूलक उत्तरवर्ती की भूमि तैयार करता है। एक राजस्थान-केन्द्रित, अनुदैर्घ्य अध्ययन इन चारों चरों को समय के साथ अनुसरण कर सकता है, और इस प्रकार यह निर्णय कर सकता है कि 'सरपंच-पति' की अवस्था स्थायी अधिग्रहण है अथवा संक्रमणकालीन। सिद्धान्त का एक और निहितार्थ नीतिगत है: यदि रूपान्तरण इन चार चरों पर निर्भर है, तो हस्तक्षेप के बिन्दु भी यही हैं—प्रभावी कार्यकाल का विस्तार, प्रक्रियात्मक ज्ञान का संवर्धन, सौदेबाज़ी-स्वायत्तता का सुदृढ़ीकरण, और सहायक गठबन्धनों का पोषण। उल्लेखनीय है कि 2023 की पंचायती राज मंत्रालय समिति की संस्तुतियाँ—प्रशिक्षण, अनुश्रवण, मार्गदर्शन—सहजवृत्ति से इन्हीं चरों की ओर संकेत करती हैं, यद्यपि बिना किसी स्पष्ट सैद्धान्तिक ढाँचे के। रूपान्तरण-फलन उस सहजवृत्ति को एक संरचना देता है।

7. निष्कर्ष

इस आलेख का दावा संयत है किन्तु, मेरी दृष्टि में, परिणामकारी। वर्णनात्मक–सारगर्भित द्विभाजन, जो प्रतिनिधित्व-अध्ययन का प्रमुख ढाँचा बन चुका है, अनिवार्य रूप से दोषपूर्ण नहीं—किन्तु वह अपर्याप्त है, क्योंकि वह छोरों का नामकरण करता है और उनके बीच की प्रक्रिया को अनसिद्धान्तित छोड़ देता है।

प्रस्तावित रूपान्तरण-फलन उस रिक्ति को भरता है। वह द्विभाजन को त्यागता नहीं, अपितु उसे अपनी एक सीमान्त-स्थिति के रूप में आत्मसात् कर लेता है, और विश्लेषण के केन्द्रीय प्रश्न को स्थानान्तरित कर देता है—'क्या उपस्थिति पर्याप्त है?' से 'किन परिस्थितियों में उपस्थिति रूपान्तरित होती है?' की ओर। चार नामांकित चर—प्रक्रियात्मक ज्ञान, कार्यकाल, सौदेबाज़ी-स्वायत्तता, गठबन्धन-अन्तःस्थता—उस रूपान्तरण की कार्य-विधि को मापनीय और नीति-योग्य बनाते हैं; प्रभुत्व-निषेध और चयन-उत्तरदायित्व उसे एक नैतिक गम्भीरता देते हैं; और अंतःक्षेत्रीयता उसे समरूपीकरण की त्रुटि से बचाती है।

अन्ततः, यह आलेख 'सरपंच-पति' को एक नए प्रकाश में रखता है। वह न किसी स्त्री की दुर्बलता है, न किसी पुरुष का षड्यन्त्र मात्र; वह रूपान्तरण-फलन का एक निम्न मान है—और उस फलन के चर मानवीय अभिकल्प के अधीन हैं। यही इस सैद्धान्तिक पुनर्निरूपण का अन्तिम, और आशावादी, निहितार्थ है: जिसे संरचना ने उत्पन्न किया है, उसे संरचना ही रूपान्तरित भी कर सकती है।

References

Beaman, L., Duflo, E., Pande, R., & Topalova, P. (2012). Female leadership raises aspirations and educational attainment for girls: A policy experiment in India. *Science, 335*(6068), 582–586.

Bhavnani, R. R. (2009). Do electoral quotas work after they are withdrawn? Evidence from a natural experiment in India. *American Political Science Review, 103*(1), 23–35.

Brulé, R. E. (2020). *Women, power, and property: The paradox of gender equality laws in India*. Cambridge University Press.

Chattopadhyay, R., & Duflo, E. (2004). Women as policy makers: Evidence from a randomized policy experiment in India. *Econometrica, 72*(5), 1409–1443.

Chauchard, S. (2017). *Why representation matters: The meaning of ethnic quotas in rural India*. Cambridge University Press.

Childs, S., & Krook, M. L. (2008). Critical mass theory and women's political representation. *Political Studies, 56*(3), 725–736.

Clots-Figueras, I. (2012). Are female leaders good for education? Evidence from India. *American Economic Journal: Applied Economics, 4*(1), 212–244.

Crenshaw, K. (1991). Mapping the margins: Intersectionality, identity politics, and violence against women of color. *Stanford Law Review, 43*(6), 1241–1299.

Dahlerup, D. (1988). From a small to a large minority: Women in Scandinavian politics. *Scandinavian Political Studies, 11*(4), 275–298.

Dunning, T., & Nilekani, J. (2013). Ethnic quotas and political mobilization: Caste, parties, and distribution in Indian village councils. *American Political Science Review, 107*(1), 35–56.

Heinze, A. R., Brulé, R. E., & Chauchard, S. (2025). Who actually governs? Gender inequality and political representation in rural India. *The Journal of Politics, 87*(2). https://doi.org/10.1086/730746

Kabeer, N. (1999). Resources, agency, achievements: Reflections on the measurement of women's empowerment. *Development and Change, 30*(3), 435–464.

Mansbridge, J. (1999). Should blacks represent blacks and women represent women? A contingent "yes." *The Journal of Politics, 61*(3), 628–657.

Mansbridge, J. (2003). Rethinking representation. *American Political Science Review, 97*(4), 515–528.

Mansbridge, J. (2009). A "selection model" of political representation. *Journal of Political Philosophy, 17*(4), 369–398.

Nussbaum, M. C. (2000). *Women and human development: The capabilities approach*. Cambridge University Press.

Pettit, P. (1997). *Republicanism: A theory of freedom and government*. Oxford University Press.

Phillips, A. (1995). *The politics of presence*. Clarendon Press.

Pitkin, H. F. (1967). *The concept of representation*. University of California Press.

Saward, M. (2006). The representative claim. *Contemporary Political Theory, 5*(3), 297–318.

Saward, M. (2010). *The representative claim*. Oxford University Press.

Sen, A. (1999). *Development as freedom*. Oxford University Press.

Young, I. M. (2000). *Inclusion and democracy*. Oxford University Press.